



## शोध आलेख

### प्राचीन जैन साहित्य में मुद्राएँ

डॉ. रजनी जैन

#### शोध संक्षेप

मानव सभ्यता का जब से उदय हुआ, उसे विनिमय के साधनों की आवश्यकता महसूस हुई। प्राचीन कालीन समय में विनिमय का मुख्य साधन वस्तु विनिमय हुआ करती थी। समय के साथ-साथ विभिन्न वस्तुओं का विनिमय के रूप में प्रयुक्त होने लगा। वैदिक काल में गाय भी विनिमय का एक महत्वपूर्ण माध्यम थी। फिर विनिमय के लिए धातुओं की उपयोगिता मनुष्य को अधिक व्यवहारिक एवं श्रेष्ठ लगी। लेकिन जब किसी विनिमय के लिए धातुओं की मात्रा एवं शुद्धता का सवाल आया तो सिक्कों के रूप में वे सामने आये। प्राचीन जैन साहित्य में मुद्राओं के उपयोग का वर्णन आता है। लम्बे समय से सिक्के पैसों की अवधारणा से जुड़े हुये हैं। जैसा कि यह तथ्य परिलक्षित है कि 'सिक्का और 'मुद्रा' शब्द समानार्थक हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में प्राचीन जैन साहित्य में मुद्राओं का विवेचन किया गया है।

#### की वर्ड

सभ्यता, प्राचीन, मुद्रा, स्वर्ण

#### प्रस्तावना

समाज में सिक्कों का विनिमय के साधन के रूप में प्रयुक्त होना इस बात के दीर्घ प्रमाण हैं कि सिक्कों का निर्माण भी किया जाता होगा। प्राचीनकालीन समय में सिक्कों को निर्मित किये जाने के लिये दो विधियों के अस्तित्व का पता चलता है। पहली विधि के अनुसार सिक्कों को ढालकर निर्मित किया जाता था जबकि दूसरी विधि में ठप्पे की विधि से सिक्कों का निर्माण किया जाता था। पहली विधि में सिक्कों के निर्माण हेतु धातु को पिघलाकर साँचे में डालकर ढलाई विधि से सिक्कों को निर्मित किया जाता था साँचों पर मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, धनुष, धार्मिक प्रतीक, हाथी आदि बने रहते थे। सिक्कों के लिये साँचे तैयार कर उनको भट्टी में रखकर पकाकर

उनके मध्य बिन्दु से धातु डाली जाती थी और पिघली हुई धातु उचित स्थान पर पहुँचकर विशिष्ट आकार में फैल जाती थी इससे साँचे पर बने लेख अथवा चिन्ह धातु पर बन जाते थे। इसी प्रकार दूसरी विधि से सिक्के तैयार करने के लिये किसी धातु-पिण्ड के समान माप के टुकड़े काटकर उन्हें तपाकर ठप्पे से दबाकर 'चिन्ह' अथवा 'लेखयुक्त' कर बनाया जाता था। इन्हें 'आहतजिकके' (पंच मार्कड बनाने की तकनीक के कारण) भी कहते हैं। गंगा की घाटी और भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में ये सिक्के प्रचलित थे। इस प्रकार के सिक्के तक्षशिला की खुदाई से प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार जैन साहित्यानुसार जिन सिक्कों की शुद्धता की परीक्षा करके चिन्ह अंकित कर दिये जाते थे वही



सिक्के शुद्ध और प्रमाणिक माने जाते थे। ये सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के बनाये जाते थे।

वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये वस्तु का मूल्य निर्धारित होना आवश्यक होता है जिससे विनिमय का कार्य आसानी से किया जा सके। प्राचीनकाल से ही मुद्रा सिक्कों के रूप में विनिमय का साधन रही हैं। अष्टाध्यायी से पता चलता है कि वैदिक काल में स्वर्ण 'निष्क' सिक्कों और आभूषण दोनों रूपों में प्रचलन में था। जैन साहित्य में अनेक प्रकार की मुद्राओं एवं सिक्कों का पता चलता है। सुनार अँधेरे में भी हिरण्य, खोटे सिक्कों को पहचान लेता था। इसी प्रकार उपासकदशांग में हिरण्य-सुवर्ण का एक साथ वर्णन आया है। एक अन्य उल्लेख में आया है कि राजा श्रेणिक ने अपनी पुत्र वधुओं को आठ करोड़ 'हिरण्य' और आठ करोड़ 'सुवर्ण' प्रदान किये थे। परन्तु डा० भण्डारकर 'हिरण्य' को सिक्का स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार 'स्वर्णपिण्ड' को हिरण्य कहा जाता था, ओर चिन्हित स्वर्ण सिक्कों को भी 'सुवर्ण' कहा जाता था। जैन साहित्य में अनेकों स्थान पर 'हिरण्य' और 'सुवर्ण' का उल्लेख आने से ऐसा लगता है कि उस काल में 'हिरण्य' और 'सुवर्ण' के सिक्के बहुत अधिक मात्रा में प्रचलन में थे इसके अलावा अन्य मुद्राओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यथा कर्षापण ( कर्षापण ), माषक, अर्द्ध कर्षापण, पाद कर्षापण, अट्टकर्षापण, सुकपण, निक्स ( निष्क ), सुवर्ण ( सुवर्ण ) और रूपक ( रूपक ) को क्रय विक्रय का माध्यम माना जाता था। राजा बिम्बसार के समय में 'कर्षापण' राजगृह में प्रचलित था। अपने संघ के नियम बनाते समय बुद्ध ने इसे मुख्य रूप में स्वीकार किया था।

काम करने वाले कर्मचारियों, दास-दासियों को उनका पारिश्रमिक सोने, चाँदी और ताँबे के रूप में दिया जाता था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमिकों को उनका पारिश्रमिक सिक्कों के रूप में दिया जाता होगा अर्थात् उक्त धातुओं ( सोने, चाँदी, ताँबा ) के सिक्के अवश्य ही बनाये जाते होंगे। सिक्कों के प्रचलन से व्यापार में काफी सुविधा हो गयी थी। व्यापारी स्वदेश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी व्यापार करने लगे थे।

**स्वर्ण सिक्के** -- सोने के सिक्कों में मुख्यरूप से दीनार, सुवर्ण, केवडिक, निष्क और सुवर्ण माष के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कल्पसूत्र में भगवान महावीर की माता को सोलह स्वपनों के आने की बात कही गयी है उनमें से एक स्वपन में दीनारों की माला धारण किये हुए बताया गया है। ईसवी की प्रथम शताब्दी के लगभग भारतीय 'दीनार' से निश्चित रूप से परिचित थे क्योंकि कल्पसूत्र का रचना काल प्रथम शताब्दी लगभग माना जाता है। आधुनिक विद्वानों का मानना है कि रोम के 'डिनेरियस' के नाम पर ही सोने के सिक्कों को दीनार कहा जाता था दूसरे रोमन पद्धति के अनुसार ही इसका भार 124 ग्रेन था। इसी प्रकार एक उल्लेख में राजा मयूरक ने दीनार सिक्कों पर अपने चित्र अंकित करवाकर उसे प्रवर्तित किया था। वसुदेवहिण्डी से पता चलता है कि एक धोखेबाज ( धूर्त ), साधु का वेश बनाकर एक सार्थवाह के पास गया और 500 दीनारें दिखाकर कहने लगा कि ये दीनारें मुझे भिक्षा में प्राप्त हुई हैं मैं इनको सुरक्षित रखकर आपके साथ जंगल पार करना चाहता हूँ उस धूर्त ने रास्ते में सबको भोजन में विष खिलाकर मार डाला और उनका सारा धन लूट लिया। एक अन्य उल्लेख में अचल नाम के व्यापारी ने एक गणिका को



800 दीनारों भेंट की थी। आवश्यकचूर्णि में एक उल्लेख में एक राजा ने दक्षिणा में एक कार्पाटिक को एक युगल वस्त्र और दीनार भेंट की थी। एक अन्य उल्लेख से पता चलता है कि एक व्यापारी और एक गरीब में शर्त लगी कि जो माघ के महीने सारी रात पानी में बैठेगा उसे एक हजार दीनार प्राप्त होगी।

जैन ग्रन्थ वृहत्कल्पभाष्य में एक और सिक्के का उल्लेख मिलता है यह पूर्व देश में प्रचलित था इसे 'केवडिक' कहा जाता था। इसकी धातु के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है परन्तु इसका सोने के सिक्कों के साथ उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह भी सोने का ही सिक्का हो। निशीथचूर्णि में इसी सिक्के को 'केतरात' कहा गया है। उक्त सिक्के के विषय में अन्यत्र उल्लेख प्राप्त नहीं होने से सम्भवतः यह किसी प्रान्त का सिक्का रहा होगा। इसी प्रकार स्वर्ण धातु से बने एक अन्य सिक्के के 'निष्क' की जानकारी प्राप्त होती है। उपरोक्त सभी उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम से विष्णुगुप्त तक लगभग सभी शासकों ने सोने के सिक्के चलाये जो गुप्तकाल की आर्थिक समृद्धि की ओर संकेत करते हैं।

**रजत सिक्के-** रजत सिक्के भी कई प्रकार के होते थे इनमें कर्षापण, पाद कर्षापण, माष कर्षापण, रूवग, सुभाग, नेलक और द्रम्म प्रमुख रूप से चलते थे।

चाँदी के गोल और आयताकार चोकोर सिक्कों को कर्षापण कहा जाता था। इसके विषय में डा० वासुदेव उपाध्याय ने कर्षापण का मूल्य माप-तौल के आधार पर निर्धारित किया है उनका मानना है कि रत्ती को कर्ष और कर्ष द्वार तौले जाने वाले सिक्के को

कर्षापण कहा जाता था। कर्षापण के छोटे सिक्के भी प्रचलन में थे आधे मूल्य के कर्षापण को अर्ध कर्षापण तथा चौथाई मूल्य के कर्षापण को पाद कर्षापण और सोलहवें भाग मूल्य के कर्षापण को माष- कर्षापण कहा जाता था। उत्तराध्ययन के एक प्रसंग में खोटे कर्षापण ( कूड़-कहावण ) का उल्लेख आया है ये कर्षापण प्रामाणिक नहीं होते थे। प्रश्नव्याकरण में खोटे सिक्कों से जीविकोपार्जन करने वाले को 'कूड़' कहापणो जीवी' कहा जाता था। इससे प्रतीत होता है कि उस समय कुछ लोगों की आजिविका खोटे सिक्के पर भी निर्भर करती थी। इसके लिये कौटिल्य ने खोटे सिक्के बनाने वालों को दण्ड का भागी बताया है।

'रूवग' व 'रूप्य' नाम के चाँदी के सिक्के का भी प्रचलन था। रूवग अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग मूल्यों और नाम से जाना जाता था रूवग को सौराष्ट्र और दक्षिणापथ में 'समारग' कहा जाता था। वृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि दक्षिणापथ के दो समारगों का मूल्य उत्तरापथ के एक रूवग के मूल्य के बराबर तथा उत्तरापथ के दो रूवगों का मूल्य पाटलिपुत्र के एक रूवग के मूल्य के बराबर था। इसी प्रकार दक्षिणापथ के दो रूवगों का मूल्य कांचीपुर के एक नेलक के मूल्य के बराबर था और कांचीपुर के दो नेलकों का मूल्य पाटलिपुत्र के एक रूवग के मूल्य के बराबर था। उत्तराध्ययनचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक स्त्री ने एक वणिक से , रूवग देकर रूई खरीदी थी। निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि दक्षिणापथ में चाँदी की 'काकणी' भी प्रचलित थी। उपरोक्त विवरण से एक बात स्पष्ट है कि देश के ज्यादातर भाग में किसी न किसी रूप में चाँदी के सिक्के का प्रचलन जरूर रहा होगा।



**ताम्र सिक्के** -- ताँबे के सिक्कों का प्रयोग प्रतिदिन व्यवहार में होता था। ताँबे के सिक्कों में मुख्यरूप से पण, माष और काकणी का उल्लेख हुआ है। ताँबे के कर्षापण का सोलहवाँ भाग 'माषकर्षापण' कहलाता था। ताँबे का एक छोटा सिक्का जो कि दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित था। काकणी कहलाता था। उत्तराध्ययनचूर्ण में इसका मूल्य रूवग का 1/80 भाग कहा गया है। शास्त्र के वाक्यों में मनुस्मृति का कथन सबसे अधिक स्पष्ट है। उसके अनुसार चाँदी के पुराण (कर्षापण) का भार 32 रत्ती होता था और एक रत्ती की वर्तमान काल में तोल लगभग 1.83 ग्रेन मानी जाती है। उपरोक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि ताँबे के सिक्के जल्दी घिस जाते होंगे एवं उनका मूल्य कम होने के कारण इनको संचित करने की प्रवृत्ति दिखायी नहीं पड़ती है जबकि सोने व चाँदी के सिक्के को संचित करने की प्रवृत्ति पायी जाती थी।

आधुनिक विद्वानों का मानना है कि भारत में चन्द्रगुप्त प्रथम ने सबसे पहले सोने के सिक्के निर्गत किये थे जिसका परवर्ती राजाओं ने अनुकरण किया था। चाँदी के वर्तुलाकार और वर्गाकार सिक्के मिले हैं इन्हें तत्वविदों ने 'चिन्हित' या "आहत सिक्के" कहा है। सोने, चाँदी के सिक्के का मूल्य निर्धारण पारस्परिक अनुपात के आधार पर होता था। सम्भवतः धातुओं

की उपलब्धि के अनुसार अनुपात भी घटता बढ़ता रहता होगा। ईसवी सन् 120 के नासिक गुहा लेख से पता चलता है कि 70 हजार कार्षापण 2 हजार सुवर्ण मुद्राओं के बराबर थे अर्थात् एक सुवर्ण मुद्रा का मूल्य 35 कार्षापण था। अर्थात् स्पष्ट हो जाता है कि समयानुसार समाज में स्वर्ण, रजत एवं ताम्र सिक्के एवं मुद्रायें व्यवहार में प्रचलन में थी जो मजबूत आर्थिक नीति की प्रतीत होती हैं।

### निष्कर्ष

उपर्युक्त संदर्भों एवं साक्ष्यों के बावजूद अभी तक विवेच्यकाल का सोने का कोई वास्तविक सिक्का प्रकाश में नहीं आया है और बहुमान्य मत यही है कि जैन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सिक्को के निर्माण का दायित्व राज्य निगम और श्रेणियों पर था। इसके निर्माण के लिए अलग से टकसाल नहीं होते थे सिक्को का निर्माण राज्यों द्वारा होता था निषिथचूर्ण में उल्लेख आया है की नामक राजा ने अपने चित्र के साथ स्वर्ण मुद्राएँ जारी की थी डॉ० भंडारकर यहाँ हिरण्य को सोने के सिक्के मानते हैं। प्राचीन जैन साहित्य वृहत्कल्पभाष्य में एक अन्य सोने के सिक्को को सुवर्णमास कहा जाता है उपर्युक्त विवरण एवं अंकन के बावजूद सिक्को की संख्या और न ही उनकी धातु अर्थात् स्वर्ण विश्वसनीय है।

### सन्दर्भ

1. नीतिवाक्यामृतम -- 8/11 - पृष्ठ - 204
2. पाणिनि अष्टाध्यायी - 5/11/19
3. उपासकदशांग -1 पृष्ठ -6
4. वासुदेव उपाध्याय - प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - पृष्ठ -10
5. उत्तराध्ययन सूत्र -20/42
6. आवश्यकचूर्णी पृष्ठ -550



7. बनर्जी राखालदास -,प्राचीन मुद्राएँ पृष्ठ -157
8. कौटिल्य अर्थशास्त्र - 4/1/76
9. निशीथचूर्णी – भाग -3 गाथा-5036
10. मनुस्मृति – 8/130

